

# आत्मवाद के विविध पहलू

लेखक : महाप्रज्ञ

धर्म की आराधना का मूल आधार है आत्मा। हमारे शरीर में आत्मा नहीं है। शरीर में आत्मा है। आत्मा अमूर्त है और शरीर मूर्त है। दार्शनिक जगत् में एक प्रश्न बहुत चर्चित रहा है— अमूर्त के साथ मूर्त का संबंध कैसे हो सकता है? आत्मा और शरीर यौगिक है, एक मिश्रण है। दोनों साथ-साथ चल रहे हैं पर यह मिश्रण कब बना और कैसे बना। यह सम्बन्ध की बात बहुत जटिल है।

## आत्मा मूर्त भी, अमूर्त भी

जैन दर्शन ने एक नयी स्थापना की—आत्मा शरीर से बंधी हुई है इसलिए वह सर्वथा अमूर्त नहीं है। आत्मा का अस्तित्व या स्वरूप अमूर्त हो सकता है। उसमें स्वरूपगत अमूर्तता हो सकती है किन्तु वर्तमान में वह सर्वथा अमूर्त ही है। शरीर में बंधी हुई आत्मा मूर्त भी है। यदि आकाश की भांति आत्मा सर्वथा अमूर्त होती तो शरीर के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता। आकाश में वर्षा होती है, सर्दी होती है, धूप होती है पर आकाश पर उसका कोई प्रभाव नहीं होता। न आकाश गीला होता है, न आकाश ठंडा होता है और न आकाश गर्म होता है। उस पर इनका कोई प्रभाव नहीं होता। यदि आत्मा आकाश की भांति सर्वथा अमूर्त होती तो उस पर शरीर का कोई प्रभाव नहीं होता और वातावरण का भी उस पर कोई प्रभाव नहीं होता, किन्तु इनका आत्मा पर प्रभाव होता है, इसलिए यह मानना बहुत संगत है कि आत्मा कथंचित् मूर्त है। यह मूर्त और अमूर्त का योग कब बना, इसका कोई आदि-बिन्दु ज्ञात नहीं है। जब से आत्मा है तब से वह शरीर के साथ है और इसीलिए वह मूर्तिमान् बनी हुई है। भविष्य के आधार पर कहा जा सकता है— शरीर मुक्त होते ही आत्मा अमूर्त बन जाएगी। शरीर-मुक्त होने के बाद आत्मा पर हमारे जगत् का, वातावरण और पर्यावरण का कोई प्रभाव नहीं होता। मुक्त आत्मा न विकृत होती है, न अशुद्ध होती है। विकार और आवरण उस आत्मा में है जो आत्मा कथंचित् मूर्त बनी हुई है। अमूर्त आत्मा में कोई विकार या आवरण नहीं होता।

## सांख्य दर्शन में आत्मा

सांख्य दर्शन में आत्मा सर्वथा अमूर्त है इसलिए उसमें न आत्मा का बंध होता है और न आत्मा का मोक्ष होता है। उसके अनुसार आत्मा कर्त्ता नहीं है और एक दृष्टि से भोक्ता भी नहीं है। वह उपचरित दृष्टि से भोक्ता हो सकती है। जैन दर्शन के अनुसार आत्मा सर्वथा अलिप्त नहीं है, सर्वथा अमूर्त नहीं है इसलिए वह सर्वथा शुद्ध नहीं है।

शरीर और आत्मा—दोनों की भिन्नता का बिन्दु हम नहीं खोज सकते। यदि ऐसी अवस्था होती कि एक दिन आत्मा अमूर्त थी, बाद में शरीर के साथ संयोग हुआ और वह मूर्त बन गई। जब आत्मा अमूर्त थी, तब बिल्कुल शुद्ध थी और शरीर का योग होते ही अशुद्ध बन गई। अगर ऐसा होता तो कुछ अलग बात होती। किन्तु संसारी आत्मा अमुक्त आत्मा, कभी भी शरीर से मुक्त नहीं थी, शरीर-शून्य नहीं थी, इसलिए यह कल्पना नहीं की जा सकती। शरीर के साथ उसका संबंध कब हुआ, यह अज्ञात है। शरीर के साथ उसका सम्बन्ध कैसे हुआ, यह अज्ञात है। इतना ज्ञात है—जब से संसार में आत्मा है, वह शरीर के साथ है।

मानव जब माया-के मोह जाग में उलझ जाता है तब वह अपने अस्तित्व को भी भूल जाता है।

१९७

इससे आगे कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

### आत्मा शरीर-परिमाण है

‘आत्मा शरीर के साथ है’—इस आधार पर महावीर ने एक और नयी स्थापना की—आत्मा शरीर-परिमाण है। आत्मा के बारे में एक सिद्धांत यह है कि आत्मा व्यापक है। सांख्य दर्शन, नैयायिक दर्शन आदि जितने आत्मवादी दर्शन हैं, वे आत्मा को असीम मानते हैं, व्यापक मानते हैं। उनका मानना है—आत्मा पूरे संसार में फैली हुई है। जैन दर्शन की यह नयी स्थापना है—आत्मा व्यापक नहीं है। वह शरीर-परिमाण है। जितना शरीर है उतने में फैली हुई है। यदि एक चींटी का शरीर है तो आत्मा उस शरीर-परिमाण वाली है। यदि एक हाथी और सारस का शरीर है तो आत्मा उनके शरीर-परिमाण है। मनुष्य के शरीर में वह मनुष्य के शरीर-परिमाण है।

### सब आत्माएं समान हैं

एक ओर जैन दर्शन का मानना है—सब जीव समान हैं, न कोई छोटा है और न कोई बड़ा है। दूसरी ओर एक हाथी की आत्मा और एक चींटी की आत्मा में स्पष्ट अन्तर दिखाई देता है। यह कैसे हो सकता है कि सब आत्मा समान हैं? चींटी की आत्मा छोटी है और हाथी की आत्मा बड़ी है यह सहज ही मान्य हो जाता है। इस प्रश्न पर जैन दर्शन का अभिमत रहा—आत्मा द्रव्य प्रत्येक व्यक्ति में बिल्कुल समान है। प्रत्येक आत्मा के असंख्य प्रदेश या अविभक्त परमाणु हैं। किसी भी आत्मा में एक भी प्रदेश या परमाणु न न्यून है और न अधिक है। सबका प्रमाण समान है किन्तु परिमाण में अन्तर हो सकता है और परिमाण में जो अन्तर होता है वह शरीर के आधार पर होता है। इस विषय को स्पष्ट करने के लिए एक सिद्धांत की स्थापना की गई—संकोच-विस्तारवाद। आत्मा में यह क्षमता है कि वह अपने प्रदेशों का संकोच कर सकती है, विस्तार कर सकती है। आत्मा में संकोच और विस्तार-दोनों होता है। संकोच इतना किया जा सकता है कि सूई की नोक टिके उतने स्थान में अनंत आत्माएं हो सकती हैं। यदि विस्तार किया जाए तो एक आत्मा समूचे लोकाकाश में फैल सकती है।

चार चीजें समान मानी जाती हैं—लोकाकाश, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आत्मा। प्रत्येक के असंख्य प्रदेश हैं और सब समान हैं। पूरे लोकाकाश में एक आत्मा फैल सकती है और अनन्त आत्माएं एक सूई की नोक में समा सकती हैं। यह है आत्मा की संकोच-विकोच की शक्ति।

### संकोच-विस्तार का आधार

केशी स्वामी ने राजा प्रदेशी को बताया—सब जीव समान होते हैं। उन्होंने एक उदाहरण के द्वारा इस तथ्य को समझाया—एक दीप को एक कमरे में रखा, पूरा कमरा प्रकाश से भर गया। उस दीप पर एक बड़ा-सा बर्तन लाकर रख दिया, प्रकाश उसमें सिमट गया, बाहर प्रकाश फैलना बंद हो गया। उसे हटाकर एक बिल्कुल छोटा-सा ढक्कन रखा, प्रकाश उसके भीतर सिमट गया। जैसे दीये के प्रकाश को ढक्कन के आधार पर संकुचित और विकसित किया जा सकता है, उसके प्रकाश से पूरे कमरे को प्रकाशित किया जा सकता है, असंकुचित और विस्तृत बनाया जा सकता है, वैसे ही आत्मा शरीर के आधार पर अपना संकोच और विस्तार कर लेती है। आत्मा को बड़ा शरीर मिलेगा तो उसमें फैल जाएगी, छोटा मिलेगा तो



उसमें फैल जाएगी। चींटी की आत्मा को मरकर एक बड़े शरीर में जाना है तो वह उतने में फैल जाएगी और हाथी की आत्मा को मरकर एक छोटे से कीटाणु में पैदा होना है तो उसकी आत्मा उतनी सिकुड़ जाएगी। यह है संकोच और विस्तार। आत्मा में संकोच विस्तार की क्षमता है। शेष किसी द्रव्य में यह क्षमता नहीं है। न आकाश में संकोच और विस्तार होता है और न किसी दूसरे द्रव्य में ऐसा संभव होता है। आज यह माना जाने लगा है—आकाश सिकुड़ता है, आकाश फैलता है, काल भी सिकुड़ता और फैलता है। हो सकता है—इस विषय पर एक नया अनुसंधान किया जाए। किन्तु अब तक संकोच और विस्तार की व्याख्या आत्मा के साथ ही की जाती रही है। संकोच और विस्तार सूक्ष्म शरीर के आधार पर होता है, स्थूल शरीर के आधार पर नहीं। स्थूल शरीर को छोड़कर जीव दूसरे जन्म में जाता है। एक हाथी के जीव को मरकर एक छोटे से शरीर में पैदा होना है तो वह सीधा पैदा नहीं होता, उसका सूक्ष्म शरीर, कर्म शरीर पहले ही सिकुड़ना शुरू हो जाता है और वह सिकुड़ा हुआ सूक्ष्म शरीर अपने स्थूल शरीर का उतना ही निर्माण करता है जितना उस जीव का होता है। यह संकोच और विस्तार—सूक्ष्म शरीर के आधार पर होता है।

### व्यवस्थित स्वीकृति

जो दर्शन आत्मा को व्यापक मानते हैं उनके सामने भी एक बहुत बड़ा प्रश्न है—आत्मा व्यापक है किन्तु उसकी सारी प्रवृत्ति शरीर में मिलती है। सुख-दुःख का संवेदन वहां होता है जहां शरीर है। आत्मा व्यापक है और पूरे लोक में फैली हुई है किन्तु साराज्ञान और संवेदन इस शरीर के माध्यम से होता है। सांख्य दर्शन ने सूक्ष्मलिंग शरीर का संकोच-विस्तार माना है, शरीर के बिना व्यवस्था सम्यक् बैठती नहीं है। असीम और व्यापक आत्मा कुछ भी नहीं कर सकती। सब कुछ शरीर के माध्यम से होता है। शरीरगत सारी प्रक्रियाओं को स्वीकार करना आवश्यक होता है, इस दृष्टि से यह देह-परिमाण आत्मा की स्वीकृति एक व्यवस्थित स्वीकृति प्रतीत होती है।

### प्रश्न कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व का

आत्मा के साथ जुड़ा हुआ एक प्रश्न है—कर्तृत्व और भोक्तृत्व का। आत्मा अपना संकोच और विस्तार करती है, वह क्यों करती है और कैसे करती है? इसका कारण है—उसमें कर्तृत्व की शक्ति है। यदि उसका कर्तृत्व अपना नहीं होता तो वह कोई संकोच-विस्तार नहीं कर पाती। आत्मा कर्त्ता है और वह यह करती है अपने कर्म शरीर के कारण। इसका अर्थ है—आत्मा भोक्ता है। करने की स्वतंत्रता और भोगने की स्वतंत्रता—दोनों आत्मा में है। आत्मा का लक्षण बन गया—कर्त्ता और भोक्ता। इस बारे में दार्शनिक जगत में काफी मतभेद हैं। सांख्य दर्शन आत्मा को कर्त्ता नहीं मानता। उसके अनुसार सारा कर्तृत्व प्रकृति में है। प्रकृति ही कर्म करती है, प्रकृति ही बन्ध करती है और प्रकृति ही मुक्त होती है। आत्मा सर्वथा शुद्ध है। उसके न बन्ध होता है और न मोक्ष।

जैन दर्शन ने आत्मा को सर्वथा शुद्ध नहीं माना। इसलिए आत्मा का बंध भी होता है और आत्मा का मोक्ष भी होता है। आत्मा करती है, बंधती है। अपना कर्तृत्व और अपना भोक्तृत्व—दोनों आत्मा के साथ जुड़े हुए हैं।

आत्मा के कर्तृत्व के साथ कर्मवाद के सिद्धांत का विकास हुआ। आत्मा के कर्तृत्व को जैन दर्शन में दो भागों में विभक्त किया गया - विभाविक कर्तृत्व और स्वाभाविक कर्तृत्व, वैभाविक

भौकृतत्व और स्वाभाविक भौकृतत्व।

### स्वाभाविक कर्तृत्व

प्रत्येक द्रव्य में निरन्तर परिणमन होता रहता है, परिवर्तन होता रहता है। आत्मा उस परिणमन की कर्त्ता है। आत्मा अपने स्वाभाव को करती है, उसका कर्तृत्व-भाव निरन्तर चलता रहता है। यदि एक क्षण भी उसका कर्तृत्वभाव बन्द हो जाए तो आत्मा का अस्तित्व समाप्त हो जाए। उसे निरन्तर कुछ न कुछ करना होता है। पारिभाषिक शब्दावली में इसे कहा गया -अर्थपर्याय, स्वाभाविक पर्याय, स्वाभाविक परिणमन। परिवर्तन का चक्का स्वभाव से निरन्तर घूमता रहता है, कभी बन्द नहीं होता। आत्मा में निरन्तर परिणमन होता रहता है, इसलिए उसका अस्तित्व टिका रहता है। परिणमन बन्द हो जाए तो उसका अस्तित्व भी बन्द हो जाए। एक क्षण में आत्मा का अस्तित्व है। यदि वह दूसरे क्षण के योग्य अपने अस्तित्व को न बना सके तो उसका अस्तित्व समाप्त हो जाएगा। अपने अस्तित्व को टिकाए रखने लिए प्रतिक्षण करना होता है और यही आत्मा का स्वाभाविक कर्तृत्व है।

### वैभाविक कर्तृत्व

एक आत्मा मनुष्य बन गई और एक आत्मा पशु बन गई। एक आत्मा तिर्यच योनि में चली गई, एक नरक गति में चली गई, एक देव गति में चली गई। यह है, वैभाविक कर्तृत्व। व्यक्ति अपने कर्तृत्व से मनुष्य बना है, उसे कोई बनाने वाला नहीं है। अपने कर्तृत्व से ही वह पशु गति में चली जाती है। यह उसका वैभाविक कर्तृत्व है। उसने अपने साथ एक ऐसा जाल रच रखा है जिसके कारण उसका कर्तृत्व चलता है और उस नाना गतियों में भ्रमण करना पड़ता है। यह गतिवाद, नाना गतियों में परिभ्रमण का चक्र आत्मा के कर्तृत्व के आधार पर चलता है। उसे दूसरा कोई करने वाला नहीं है।

### प्रश्न सुख-दुःख का

इस कर्तृत्व के सिद्धांत के आधार पर साधना का एक बहुत बड़ा सूत्र प्रस्तुत होता है-दुनिया में कोई किसी को सुख-दुःख नहीं देता। यह मानना मिथ्या है कि अमुक आदमी ने मुझे सुख दिया और अमुक आदमी ने मुझे दुःख दिया। साधक कभी अपने सुख और दुःख को दूसरे पर आरोपित नहीं कर सकता। इस तथ्य को समझने में कुछ कठिनाई हो सकती है। प्रत्येक आदमी कहता है - उसने मुझे सुखी बना दिया और उसने मुझे बड़ा दुःखी बना दिया। सुख दुःख का आरोपण दूसरों पर होता है। आदमी अपने आपको बचा लेता है और दूसरों पर आरोपण कर देता है। यह मिथ्या भ्रम है। इसका टूटना बहुत जरूरी है।

दूसरा आदमी कुछ भी नहीं करता, ऐसी बात नहीं है। वह किसी को सुख देना चाह सकता है और किसी को दुःख देना भी चाह सकता है। किन्तु उसके वश में नहीं है कि वह किसी को सुख दे सके और किसी को दुःख दे सके। वह केवल सुख के साधनों को जुटा सकता है, दुःख के साधनों को जुटा सकता है। वह दुःख देने वाले वातावरण और परिस्थिति का निर्माण कर सकता है, सुख देने वाले वातावरण या परिस्थिति का निर्माण कर सकता है। इससे आगे उसकी सीमा समाप्त हो जाती है। वह सुख-दुःख दे नहीं सकता, उनका निमित्त बन सकता है।

### संदर्भ दुःख का

एक साधक ध्यान की मुद्रा में खड़ा था। उसे देखते ही एक मनुष्य के मन में प्रतिशोध की आग भभक उठी। उसने सोचा-यह कैसा आदमी है। मेरी कन्या के साथ इसकी शादी निश्चित की गई और यह उसे छोड़कर सन्यासी बन गया। इस चिन्तन से उसके प्रतिशोध की आग अत्यधिक तीव्र बन गई। उसने सोचा - इसे अभी मार डालूं। पास ही श्मशान में आग जल रही थी। समीपस्थ तालाब में गीली मिट्टी थी। वह मनुष्य मिट्टी ले आया और उसने साधक के सिर पर पाल बांध दी। उस पाल में उसने जलते हुए अंगारे लाकर रख दिए।

हम इस भाषा में सोचेंगे-उसने साधक को कितना दुःखी बना दिया किन्तु जिसे दुःखी बनाया गया, वह क्या सोचता है-यह अधिक महत्वपूर्ण है। वह आत्मलीन बन गया। वह परम ज्ञान एवं परम आनन्द भोग रहा है। कैवल्यज्ञान की प्राप्ति, मोहनीय कर्म का विलय और अनंत आनन्द उसमें प्रकट हो गया। वह सुख में डूब गया। बाहर से देखने वाला सोचता है - बेचारा कितना दुःखी है और करने वाला समझता है मैंने प्रतिशोध ले लिया, बदला ले लिया, दुःखी बना दिया। इन दोनों में कहीं कोई तालमेल नहीं है।

दूसरा आदमी दुःख की सामग्री जुटा सकता है पर किसी को दुःखी बना नहीं सकता। दुःखी होना अपने हाथ में है। जैन दर्शन का प्रसिद्ध सूत्र है - 'अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण या सुहाण य' - सुख दुःख की कर्त्ता और विकर्त्ता अपनी आत्मा है। यदि दूसरा कर्त्ता होता तो यह सिद्धांत गलत हो जाता है। किन्तु यह सिद्धान्त सही है, दूसरा कोई कर्त्ता नहीं है। कर्त्ता अपनी ही आत्मा है।

### संदर्भ सुख का

सुख के संदर्भ में भी यही तथ्य सत्य की कसौटी पर खरा उतर सकता है। एक व्यक्ति बहुत उदास था, बहुत दुःखी था। उसे संवाद मिला था कि तुम्हारा जवान लड़का मर गया है। नौकर उसके दुःखी एवं उदास होने का कारण नहीं समझ पाए। उन्होंने सोचा - आज स्वामी उदास कैसे? वे हर सुविधा जुटाना चाहते थे उदासी मिटाने के लिए। गर्मी का मौसम था, पंखा चला दिया, वातानुकूलन शुरू हो गया। पीने के लिए ठंडा पेय सामने रख दिया। जितनी सुविधा जुटाई जा सकती थी, वे सारी जुटा दीं, किन्तु उदासी नहीं मिटी। वह भोजन करता है, सारी बढ़िया सामग्री सामने पड़ी है, पर मन में भयंकर दुःख और कष्ट है। सारी सुविधा की सामग्री और सुख की सामग्री होने पर भी वह बड़ा दुःखी है, बेचैन है। कोई किसी को सुखी बना नहीं सकता। दूसरा केवल सुख-सुविधा की सामग्री जुटा सकता है।

### चिन्ता है शरीर की

कोई पैदल चलता है तो दूसरा कहता है - देखो! बेचारा शरीर को कितना सता रहा है। एक व्यक्ति गर्मी में बैठा है, पंखा नहीं चलता है तो देखने वाला कहता है शरीर को कितना सताया जा रहा है। सर्दी को सहना, गर्मी को सहना और कष्ट को सहना, इसका अर्थ हो गया शरीर को सताना। 'शरीर को सताया जा रहा है'-इसकी चिन्ता है किन्तु आत्मा को सताया जा रहा है-इसकी कोई चिन्ता नहीं है।

व्यक्ति का सारा दृष्टिकोण शरीरलक्षी है। साधना का सूत्र है आत्माभिलक्षी होना। आत्मा के कर्तृत्व और आत्मा के भोक्तृत्व से साधना का यह सूत्र फलित हुआ। आत्मलक्षी दृष्टिकोण में

~~~~~  
जहां प्रेम, करुणा, वात्सल्य और साधुत्व है उसी की जय होगी।

शरीर का संयम महत्वपूर्ण होगा। शरीर का संयम होता है तो चंचलता कम होती है। आसन करने से, पद्मासन में बैठने से शरीर को कष्ट होता है। सर्दी को सहना, गर्मी को सहना, आने वाले सारे तापों को सहना शरीर को कष्ट देना है। यदि आत्मा का कर्तृत्व और भौकृत्त्व नहीं है तो सहने की कोई जरूरत नहीं है। सुख-दुःख को करने वाली आत्मा है इसलिए सहना आवश्यक है। आत्मलक्ष्मी होना शरीरलक्षिता को कम करना है। इससे सहन करने की बात स्वतः फलित होती है।

### दर्शन की दो धाराएं

दर्शन के क्षेत्र में दो धाराएं हैं - एकात्मवाद और अनेकात्मकवाद। कुछ दर्शनों का मत है-आत्मा एक है। जैन दर्शन अनेकात्मवादी है। उसके अनुसार आत्मा अनंत है, प्रत्येक आत्मा स्वतंत्र है, कोई आत्मा ईश्वर का अंश नहीं है, ब्रह्म का अंश नहीं है और न कोई माया या प्रपंच है। हर आत्मा का अपना स्वतंत्र अस्तित्व है। संख्या की दृष्टि से अनंत-अनंत आत्माएं हैं और उन सबका अपना-अपना कार्य है। अकेली आत्मा जन्म लेती है, अकेली आत्मा मरती है और अकेली आत्मा अपने सुख:दुख का संवेदन करती है। उसका कोई हिस्सा नहीं बंटाता, उसमें कोई भागीदार नहीं बनता। सब कुछ अपना होता है। हो सकता है-इससे स्वार्थवाद के पनपने की संभावना की जा सके। प्रत्येक आत्मा स्वतंत्र है और सब कुछ अपना-अपना है, अपना सुख और अपना दुःख, अपना संवेदन और अपना ज्ञान, अपना जन्म और अपनी मृत्यु-यह नितान्त स्वार्थवाद है। अपनी ही चिन्ता करो, दूसरों की चिन्ता करने की कोई जरूरत नहीं। अपना किया कर्म अपने को भोगना है, दूसरा कोई बीच में नहीं आता। अच्छा करता है तो अच्छा भोगता है और बुरा करता है तो बुरा भोगता है। न बाप काम आता है, न माता काम आती है, न भाई काम आता है, न और कोई काम आता है। इससे स्वार्थवादी भावना पनपेगी बस, अपना करो और अपना भोगो, दूसरों से क्या लेना-देना। प्रत्येक व्यक्ति सोचेगा-मैं दूसरे के लिए क्यों करूं? दूसरे के लिए क्यों कर्म बांधूं? मेरा कर्म मुझे भुगतना है। एक ओर स्वार्थवाद का यह स्वर मिलता है तो दूसरी ओर स्वर मिलता है महायान का - जब तक सब जीवों की मुक्ति नहीं होती, तब तक मैं मोक्ष में जाना नहीं चाहता। एक ओर सबकी मुक्ति का विचार और दूसरी ओर अपनी मुक्ति का विचार। मुझे मुक्त होना है, दूसरे की दुसरे जानें, मुझे कोई चिन्ता नहीं है। अपनी मुक्ति का विचार और समष्टि की मुक्ति का विचार - दोनों दृष्टिकोणों में बड़ा अन्तर है।

### वास्तविक सचाई क्या है?

क्या यह मान लिया जाए- स्वतंत्र या प्रत्येक आत्मा की भावना ने मनुष्य में स्वार्थ की भावना पैदा की है, मनुष्य स्वार्थी बना है? इसके दो पहलू हैं-दार्शनिक और व्यवहारिक। दार्शनिक पहलू के आधार पर कहा गया-आत्मा नहीं है। व्यवस्था की दृष्टि से नाना आत्माएं हैं। हमारे सामने एक आत्मा नहीं है। एक आत्मा है, यह दार्शनिक प्रकल्पना है। व्यक्ति के सामने असंख्य आत्माएं हैं। हर मनुष्य की अपनी आत्मा है, हर पशु की अपनी आत्मा है। प्रश्न हुआ-यह कैसे? इस प्रश्न को समाहित करने के लिए एक पूरे मायावाद या प्रपंचवाद की कल्पना की गई। कहा गया-वास्तव में आत्मा एक है किन्तु अनेक आत्माएं जो दिखाई दे रही हैं, वह



व्यक्ति की दृष्टि का आभास है, मिथ्या दृष्टिकोण है। वह वास्तविक सचाई नहीं है। जैन दर्शन ने इसे वास्तविक सचाई माना है। प्रत्येक आत्मा स्वतंत्र है और अनंत आत्माएं हैं। यह अव्यावहारिक नहीं, काल्पनिक नहीं, आभास नहीं किन्तु वास्तविक सचाई है।

#### आत्मवाद: व्यावहारिक पहलू

व्यावहारिक पहलू से देखें तो एकात्मवाद से एकता फलित होती है। सब अत्मा एक हैं - इस अद्वैतवाद में एकता की साधना फलित हुई। कहा गया-सबको एक ही अनुभव करें। प्राणी को ईश्वरीय अंश मानने वाले कहते हैं-हम सब एक ही पिता के पुत्र हैं। हमारा एक ही परिवार है। यह बात बहुत अच्छी है, पर व्यवहार में कोई भी व्यक्ति अपने आपको एक पिता का पुत्र नहीं मानता। सब बंटे हुए हैं इसीलिए हिंसा, आतंक, अपराध, दूसरों को सताना और दूसरों के प्रति क्रूर व्यवहार करना चल रहा है। एक ही पिता के पूत्र हों तो यह सब नहीं चलता। सचाई यह है - एक बाप के चार बेटों में भी विरोध और विग्रह चलता है। यह दर्शन की बात जीवन में अभी तक उतरी नहीं है। जैन दर्शन के अनुसार एकत्व की बात फलित नहीं होती। 'हम सब एक हैं'- यह फलित नहीं होता। उसके अनुसार फलित होता है - 'हम सब समान हैं' किन्तु व्यवहार में यह भी फलित नहीं होता। जैन दर्शन को मानने वाले भी समानता के आधार पर व्यवहार नहीं करते। सब आत्माएं समान हैं, किन्तु व्यक्ति का व्यवहार सबके प्रति समान नहीं है। उसमें बहुत विषमता है और सारा व्यवहार विषमतापूर्ण चल रहा है।

#### आत्मवाद: दार्शनिक पहलू

व्यावहारिक पहलू पर एकात्मवाद और अनेकात्मवाद दोनों में किसी को भी बहुत सफलता मिली है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। किसी व्यक्ति ने भले ही भावना के स्वर में कह दिया-मैं तब तक मोक्ष जाना नहीं चाहता, जब तक सब मोक्ष नहीं चले जाते। कोई-कोई समानता के आधार पर ऐसा व्यवहार कर सकता है। यह एक आपवादिक स्वर हो सकता है किन्तु इसके आधार पर समाज में न तो एकत्व का प्रयोग हुआ और न समत्व का प्रयोग हुआ। व्यावहारिक दृष्टि से समाज में कोई परिवर्तन नहीं लगता। अनेक आत्मा मानने से या प्रत्येक आत्मा की स्वतंत्र सत्ता मानने से स्वार्थवाद पनपा, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता और एक आत्मा मानने से परमार्थवाद पनपा, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता।

प्रश्न दार्शनिक पहलू का है। उसके संदर्भ में कहा जा सकता है - एकात्मवाद की व्याख्या काफी जटिल है, व्यवहार के साथ उसकी संगति बिठाने में काफी जटिलताएँ हैं। प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा स्वतंत्र है, अनेकात्मवाद का यह सिद्धान्त दार्शनिक प्रक्रिया की दृष्टि से सरल और स्पष्ट अनुभव देने वाला है।

#### मैं कौन हूँ?

आत्मा के बारे में इन सारे सिद्धान्तों को जानने के बाद जो निष्कर्ष आया, जो एक प्रश्न उभरेगा, वह होगा-मैं कौन हूँ? जब तक आत्मा के इतने पहलुओं को नहीं जान लिया जाता, तब तक 'मैं कौन हूँ'-यह बात समझ में नहीं आती और इसका, उत्तर भी नहीं दिया जा सकता। साधना का महत्वपूर्ण प्रश्न है - 'मैं कौन हूँ। साधना के इस प्रश्न को समाहित करने के लिए दर्शन के इतने सारे प्रश्नों को समझना जरूरी है और इन प्रश्नों को समझने के बाद ही व्यक्ति अपने आपको यह उत्तर दे सकता है-'मैं कौन हूँ?'

लातों के अधिकारी कभी भी बातों से नहीं मानते।